

बच्चों के साथ कुछ समय

चरण सिंह पथिक

जड़बद्ध शिक्षा व्यवस्था में बच्चों के साथ बेहतर काम की गुंजाइश निकालना शिक्षक के संकल्प पर निर्भर करता है। बच्चों एवं सीखने-सिखाने के बारे में शिक्षक एवं समुदाय की सोच भी बेहतर काम की संभावनाओं में बाधा उत्पन्न करती है। बच्चों के साथ काम की पहली शर्त यही है कि उन्हें बराबर का इंसान मानते हुए उनके आत्म-सम्मान और आत्म-छवि को चोट नहीं पहुंचाई जाए। यदि शिक्षक बच्चों से प्रेम और बराबरी का व्यवहार करता है तो यही वह कुंजी है जो बच्चों को दिशा देने का काम करती है। इसी के चलते स्कूल को कैद समझने वाले बच्चों के लिए भी स्कूल सीखने के लिए आनन्द भरा स्थान बन जाता है। उनके आत्मविश्वास को बढ़ाता है।

सयानों के बीच चलती बहस या बातचीत में जब कोई मास्टर दखल देने की हिमाकत करता है तो उसे अक्सर एक चिरपरिचित जुमला सुनाई देता है - 'अरे ये तो मास्टर है। बच्चों में रहकर बच्चा हो गया है।' ये क्या समझे 'ऐसी' बातों को ..। उन 'ऐसी' बातों में ज्यादातर गांव, मौहल्ला की आपसी राजनीति या सामाजिक विवाद के मामले होते हैं। एक शिक्षक के बच्चों में रहकर बच्चा होने पर एतराज क्यों होता है? लोग क्यों इस जुमले को उसपर 'ताने' की तरह फेंकते हैं ? या शिक्षक को भी यह जुमला ताना क्यों लगता है ? शिक्षक को क्यों नहीं लगता कि बस यही जुमला है जो दुनिया में उसके काम की विशेषता को बताने वाला है और जो उसे तमाम तथाकथित सयानों से जुदा करता है।

इसका मतलब हुआ कि उस शिक्षक ने दरअसल बच्चों की दुनिया में कभी मन से प्रवेश नहीं किया। जिस शिक्षक को बच्चों में रहकर बच्चा कहे जाने पर गर्व नहीं होता मैं समझता हूं उसे बच्चों के साथ काम करने का कोई सही तजुर्बा नहीं है। यह कहा जा सकता है कि उसने बच्चों की आंतरिक दुनिया को जाना ही नहीं है और अपने आपको बच्चों की दुनिया से बाहर का प्राणी ही बना रखा है जो शाला में बच्चों के साथ मशीनी तरीके से आठ घंटे बिताकर सयानों की दुनिया में शुमार होने की जद्दोजहद में आकंठ डूबा हुआ है।

शिक्षक की हैसियत से काम करते हुए मुझे आठ वर्ष हो गए हैं। यह समय कम नहीं है लेकिन अपने अंदर झांककर देखूं तो लगता है यह मेरे लिए बेकीमत समय है। एक राजकीय शिक्षक के लिए ऐसे अवसर कम ही आते हैं जिसमें कि वह बच्चों की दुनिया को सही मायने में समझने की एक शुरुआत कर सके। एक बंधे बंधाए ढांचे में काम करने की अभ्यस्तता, स्वयं के शिक्षा के अनुभवों एवं सेवा पूर्व प्रशिक्षण से जो कुछ सीखा हुआ होता है वह बच्चों की वास्तविक दुनिया को जानने-समझने के अवसर देता ही नहीं है। मेरे लिए भी शिक्षक का पेशा वैसा ही था जैसा कि आमतौर पर लोग समझते हैं कि स्कूल जाओ और वहां बस बच्चों को पढ़ाना ही तो है। बच्चों को पढ़ाने के विषय में आम धारणा यही है कि इसमें ऐसा क्या खास है जिस पर सोचने-समझने की जरूरत है। जब कभी ऐसे लोगों के बीच जाना होता

लेखक परिचय :

प्राथमिक विद्यालय में शिक्षक। राजस्थान के महत्त्वपूर्ण कहानीकार। हंस, पहल, कथादेश, समकालीन भारतीय साहित्य आदि महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं में कहानियों का प्रकाशन। एक कहानी संग्रह 'बात ये नहीं' का प्रकाशन। अंग्रेजी, उर्दू आदि में कहानियों का अनुवाद प्रकाशित।

सम्पर्क :

गांव व पोस्ट - रौंसी, जिला - करौली, राजस्थान

या बैठना होता जो बच्चों को लेकर तरह-तरह के प्रयोग करते रहते हैं और दिन-रात उन्हीं की चिंताओं में डूबे रहते हैं तो अपने आप पर बड़ी ग्लानि होती। सोचता हूँ मुझे भी शिक्षक के रूप में काम करते हुए बरसों हो गए हैं मगर कभी ऐसा करने की ललक पैदा क्यों नहीं हुई ? क्यों मैं और मेरे जैसे हजारों सरकारी अध्यापक अपने अध्यापक होने को छुपाए हुए हैं ? जयपुर में अपने मित्रों को, जो कुछ स्वयं सेवी संगठनों में अध्यापन का काम करते हैं, देखता तो मैं हैरान रह जाता। उठते-बैठते उनकी चिंताओं में वे बच्चे रहते जिनके साथ उन्हें काम करना होता। उनकी इस तरह की तमाम चिंताओं और बहसों का मैं मौन रूप से साक्षी रहता और हर बार यह तय करके गांव आता कि अब की बार मैं भी ऐसे ही काम करने की कोशिश करूंगा। मगर गांव में आने के बाद वही सरकारी ढर्रा अपनाने पर मजबूर हो जाता। यदि साफ तौर पर कहा जाए और जब मैं पलटकर अपनी शिक्षा के अनुभव को देखता हूँ कि क्या मेरी शिक्षा इस तरह हुई है जिसमें मुझे सीखने में आनन्द आया हो ? मेरे लिए अपनी शिक्षा का अनुभव सुखद नहीं रहा। अपने अनुभव पर सोचने से बच्चों के साथ बेहतर रूप में काम करने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती कि अब तो हम बच्चों के साथ ठीक से काम कर सकते हैं। जो दमन,उत्पीड़न, हिंसा और ऊब हमने भोगी है कम से कम ये बच्चे तो उसे न भोगें। लेकिन इस प्रेरणा के बाद भी मैं बहुत समय तक बच्चों के साथ पूरी ईमानदारी से काम नहीं कर पाया और पुराने ढर्रे पर ही चलता रहा यह भी सोचने का विषय है कि ये संकल्प मैं क्यों नहीं जुटा पाया? यदि साफतौर पर कहना चाहूँ तो मेरी शिक्षा और लालन-पालन ने मुझे वह आत्मविश्वास ही नहीं दिया कि अपने विचारों को कर्म में परिणत करने का हौसला मैं जुटा सकूँ। ऐसे विचार आते ही आत्मविश्वास की दीवार हिलने लगती है। विचार को कर्म में परिणत करने में एक जोखिम है जिसे मैं उठाने से बचता रहा। बच्चों के साथ कुछ नए तरह से काम करने की मन की तड़प ऐसे ही कई बरस तक तड़फड़ाकर दम तोड़ती रही।

बच्चों में बच्चा होना इतना आसान भी नहीं है। मुझे याद आता है मेरा एक साथी गोपालदास बैरागी। कई बरस पहले जब मेरी पहली नियुक्ति चित्तौडगढ़ जिले की अरनोद तहसील के एक आदिवासी गांव में हुई थी तो वहां के स्कूल में पहले से कार्यरत शिक्षक गोपालदास बैरागी से मेरी मुलाकात हुई। वह झालावाड़ जिले का रहने वाला था। उसके पिताजी भी शिक्षक थे और अपने शिक्षण कार्य के लिए उन्हें कई पुरस्कार भी मिले थे। मेरी जहां नियुक्ति हुई वह प्राथमिक स्कूल था। मैंने वहां गोपालदास के काम करने का तरीका देखा-समझा। बच्चे मुझे देखकर दूर भागते जबकि वह उन आदिवासी बच्चों के साथ इस कदर घुलमिल कर रहता था कि मैं ताज्जुब करता और वास्तव में मुझे उससे ईर्ष्या भी होती थी। वह जिस दिन छुट्टी पर रहता उस दिन बच्चों का मन स्कूल में नहीं लगता था। मैं उसकी तरह काम करने की जी तोड़ कोशिश करता।

नई नियुक्ति थी इसलिए जोश भी था मगर मेरे काम को बच्चे स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। फर्क सिर्फ इतना था कि गोपालदास उन बच्चों के साथ हंसता-रोता, खेलता, गाता और नाचता था और मैं ऐसा करना चाहते हुए भी कर नहीं पाता था। और वहां जब तक रहा तब तक ऐसा कर भी नहीं पाया। आज सोचता हूँ तो पाता हूँ कि दरअसल मेरे अन्दर वह जज्बा था ही नहीं और जो थोड़ा बहुत था वह मात्र विचार के स्तर पर ही अटक कर रह जाता था या दूसरे साथी लोगों से उपदेशात्मक भाषा में कहने तक सीमित था। लेकिन जून 2006 में अपने एक मित्र के साथ मुझे एक पांच दिवसीय कार्यशाला में भाग लेने का अवसर मिला। कार्यशाला बच्चों के लिए क्या लिखा जाए, कैसे लिखा जाए, पर केन्द्रित थी। मैं बच्चों के लिए तो नहीं लिखता लेकिन कहानियां लिखता हूँ। उन पांच दिनों ने मेरी सोच और काम करने के तरीके को बहुत कुछ बदल डाला। पहली बार बच्चे सरकारी सोच से हटकर मेरी निजी सोच और चिंता में शामिल हुए।

इस कार्यशाला ने मेरे विचार को कार्य रूप में परिणत करने में मदद की। हालांकि दृश्य वही था लेकिन मेरे प्रेरण को ठोस दिशा देने में इस कार्यशाला ने भूमिका निभाई। मैं अब सोचता हूँ कि इससे पहले मैं क्यों अपने विचारों को अंजाम नहीं दे पाया था ? एक ठोस कारण यह है कि शिक्षक के लिए अपने काम को बेहतर अंजाम देने के लिए अपनी क्षमताओं पर आत्मविश्वास होना चाहिए और आत्मविश्वास अपने काम की समझ से आता है। शिक्षक के लिए यह सिर्फ समझ के स्तर ही सीमित नहीं रहता बल्कि उसे अपनी समझ को बच्चों के साथ क्रियान्वित भी करना होता है। दूसरा कारण, जो मुझे लगता है, वह यह कि जब चारों ओर नजरें उठाकर देखते हैं तो पूरा दृश्य बहुत निराशाजनक नजर आता है। इतनी बड़ी राजकीय शिक्षा व्यवस्था में कहीं भी कोई ऐसा स्कूल नजर नहीं आता जो कि काम करने के लिए प्रेरित करे। राजकीय स्तर पर आयोजित तमाम शिक्षक प्रशिक्षणों में लगातार काम होने के बाद भी शालाओं में किसी भी प्रकार की कोई तब्दीली नहीं नजर आती है। सब वेतन और अन्य-अन्य प्रकार के बिलों को लेकर उलझे हुए मिलते थे। इस पूरे महकमे में शिक्षा पर कोई भी चर्चा नहीं करता। शिक्षकों की एक बड़ी जमात ब्लॉक शिक्षा अधिकारी के ऑफिस के चारों ओर चक्कर लगाते हुए नेतागिरी और बाबूगिरी में उलझी हुई दिखाई देती या फिर एकदम निष्क्रिय भाव मुद्रा में दिखाई देते हैं। शिक्षकों के लिए शिक्षण कार्य के अलावा अन्य सरकारी कामों में उलझे रहना मुख्य काम हो गया है। स्कूल में साढ़े दस से साढ़े चार बजे तक टिकना सजा लगता है। ऐसे में बच्चों के साथ काम के बारे में ईमानदारी से सोचना तो बहुत दूर की बात ठहरी। बात मेरी हो या किसी और सरकारी शिक्षक की, हालात कमोबेश यही रहते हैं। प्राथमिक स्तर के स्कूलों की तो हालत बहुत ज्यादा खराब कही जा सकती है। किसी स्कूल में एक अध्यापक या

कहीं दो अध्यापक। बच्चे भी अस्सी-सौ से कम नहीं होते। घेरकर बैठना होता है सबको। पढ़ाने का वही पुरातन तरीका। कठोर अनुशासन जबरदस्ती लादना। डंडे का भय दिखाना। शिक्षण के अलावा अन्य गतिविधियां सिर्फ पन्द्रह अगस्त और छब्बीस जनवरी के दिन होने वाले परम्परागत कार्यक्रमों की तैयारी तक ही सीमित रहती है। इनके अलावा कहीं कुछ नहीं होता। बीच-बीच में अब कुछ सालों से अध्यापकों को शिक्षण में बेहतरी के लिए छः दिवसीय और नौ दिवसीय आवासीय प्रशिक्षण शिविर लगाए जाते हैं। मगर हालात में कहीं कोई तब्दीली नहीं आ सकी है। इन आवासीय शिविरों में भी दिन भर ताश खेलना और सोना होता है। इसके अलावा कुछ भी हासिल नहीं होता। किसी में कहीं कोई उमंग नहीं दिखती। कहीं कोई तरंग नहीं। इन प्रशिक्षणों में जो शिक्षक प्रशिक्षक (M.T.) लगाए जाते हैं वे जुगाड़ लगाकर बने होते हैं क्योंकि उनका प्रतिदिन का मानदेय दो सौ पचास रुपये होता ही है। खाना और ठहरना भी मुफ्त होता है। अधिकारियों के दौरे मात्र औपचारिकता भरे होते हैं। मेरे लिए काम की यही संस्कृति थी। मैं भी ऐसे ही काम करता। स्कूल जाता और बच्चों को पाठ पढ़ाया, बस हो गया काम खत्म। कोर्स पूरा हुआ और परीक्षा ली परिणाम घोषित किया और सेशन समाप्त और चलो एक साल बीता। ऐसे ही साठ वर्ष की नौकरी पूरी हो जाएगी। कभी बच्चों को समझने की जहमत नहीं उठाई कि वे किन चीजों को पसंद करते हैं ? क्या करना उन्हें पसंद है ? क्या चीज है जो उन्हें खुशी देती है ? बच्चों को कभी ऐसा वातावरण नहीं दिया कि वे स्कूल आकर भी अपने आप को स्वतंत्र महसूस करें। वे स्कूल में खेलें-कूदें और गाएं। यह सरकारी स्कूलों के बने-बनाए वातावरण में संभव ही नहीं होता। लेकिन अब मैं यह सोचता हूँ तो हंसी आती है। पिछले बरस मेरी नियुक्ति एक दूसरे स्कूल में थी। वहां से जब मेरा स्थानान्तरण हुआ तो गांव वाले कहते कि आप यहीं वापस आ जाओ। मैं कारण पूछता तो कहते इस गंगाराम (दूसरा अध्यापक) से तो बच्चे संभलते ही नहीं हैं। इससे कोई बच्चा डरता भी नहीं है। 'स्कूल का भट्टा बैठ गया है।' मैं सुनकर सोचता कि बच्चों का शिक्षक से डरना एक सकारात्मक पहलू तो कतई नहीं हो सकता। मैं अपनी कमियां ढूंढता मगर कहीं ओर छोर नहीं मिलता। क्या वाकई बच्चे मुझसे भय खाते हैं ? पिछले बीते दो-तीन बरसों को याद करता हूँ तो लगता है कि मेरे काम की छवि यही बनी है। मैं जिस दिन स्कूल नहीं जाता उस दिन बच्चे खुश रहते। शायद वे मन ही मन प्रार्थना करते होंगे कि हे प्रभु दीनदयाल ! गांव वाले माट'साब बीमार हो जाएं तो अच्छा है। बीमार होंगे तो स्कूल नहीं आ पाएंगे और स्कूल नहीं आएंगे तो उन्हें मार खानी नहीं पड़ेगी। उन मासूमों की भोली प्रार्थना अगर कभी सुन भी ली जाती तो उस दिन स्कूल के वे राजा होते। अभिभावकों के मन में भी ये बात गहरे तक बैठ गई है कि बिना मार के बच्चे नहीं सुधर सकते। वे जब भी स्कूल में आते तो यही कहते खूब डंडा

मारो इनको। यहां से जाने के बाद बस्ता फेंक कर खेलने निकल जाते हैं और फिर वे पुराने दिनों को याद कर हमें बताते कि पहले बहुत मार पड़ती थी तो पढ़ाई भी अच्छी होती थी। अब तो मास्टर्स से कोई नहीं डरता। वरना पहले माटसाब रास्ते में कहीं दिख जाते तो पेशाब निकल जाता था। यह आम धारणा बच्चे और शिक्षकों के संबंध और बच्चों के सीखने के बारे में समुदाय की बनी हुई है।

अब इस धारणा के खिलाफ काम करना मुश्किल तो है ही। क्योंकि जैसे पुख्ता तौर पर अभिभावक और शिक्षक के मन-मस्तिष्क में बैठा हुआ है कि बच्चे को सुधारने का तरीका डंडा के अलावा और हो ही नहीं सकता। वहां अगर कोई तहेदिल से इस धारणा के खिलाफ अपने तरीके से काम करेगा तो उसे बहुत पापड़ बेलने पड़ेंगे। हो सकता है कि निराशा ही हाथ लगे क्योंकि ऐसे में सबसे बड़ी चीज है धैर्य रखना। और इसका सरकारी शिक्षक में पैदा होना हथेली पर सरसों उगाने जैसा है। उसका काम तो तयशुदा कोर्स पूरा करवाना है, बच्चे सीखें या नहीं ! या फिर डंडे के जोर पर रटाना है। बच्चों को अपनी मर्जी के अनुसार सप्ताह में एक दिन भी कुछ करने की छूट देना अनुशासन के खिलाफ है।

ऐसे में मैं बच्चों के लिए सख्त और खतरनाक मास्टर था। कुछ बच्चे जो कि नए-नए आते वे तो देखकर ही रोने लगते। स्कूल से भाग जाते। किसी बच्चे को पिटता हुआ देखते तो उनकी हालत खराब हो जाती और वे कई-कई दिन तक स्कूल से गोल रहते।

लेकिन जुलाई 2006 से मैंने अपना रवैया बदलने का मन बना लिया था। जो भी नया बच्चा आता उसके नन्हें से दिल से स्कूल और मास्टर का डर दूर करने का निश्चय किया। अभिभावक स्कूल में बच्चे को छोड़कर जाते तो बच्चा रोने मचलने लगता। मैंने ऐसे बच्चों के साथ मां-बाप जैसा प्यार दुलार करना शुरू कर दिया। मैं उन्हें गोद में उठा लेता। तरह-तरह से उन्हें बहलाने लगता। यही कोशिश करता कि बच्चों के साथ काम करने की पहली शर्त यही है कि उन्हें स्कूल एक लुभावनी और आनन्ददायक जगह लगे। स्कूल में खौफ का साया न हो। इसका नतीजा यह हुआ कि बच्च अध्यापक का स्पर्श पाकर खुद को घर जैसे माहौल में समझने लगे। धीरे-धीरे यह हुआ कि वे अपने आप घर से स्कूल आने लगे। उनके लिए मैंने कोई वक्त की पाबंदी नहीं लगाई। चाहे तो वे 12 बजे स्कूल आएँ और एक दो घंटे रुककर चले जाएँ। शुरू में वे करते भी ऐसा ही। दो-तीन महीने में वे अपना पूरा वक्त स्कूल में गुजारने लगे। हंसते-हंसते आते और हल्ला मचाते छुट्टी में घर चले जाते। जब लिखने-पढ़ने पर जोर दिया जाता तो उन्हें बहुत बुरा लगता। मगर छोटी-छोटी कविताएं, कहानियां सुनते वक्त वे इतने आनंदित होते कि एक के बाद एक सुनने और सुनाने पर जिद पकड़ लेते। कोई स्टूल पर बैठ जाता तो कोई कुर्सी हथिया कर खुश होता। कोई पैरों से लिपट जाता

तो कोई गोदी के लिए मचलने लगता। हुआ ये कि उनके मासूम दिल में स्कूल और मास्टर का डर बिल्कुल गायब हो गया। दूसरी, तीसरी, चौथी और पांचवीं के बच्चों को लेकर भी एक बड़ी समस्या मेरे सामने मुंह बाये खड़ी हुई थी और वह थी उनको किताब पढ़ना सिखाना। बहुत से लड़के-लड़कियां तीन-चार वर्ष के स्कूल आने के बाद भी पढ़ना-लिखना सीखने के मामले में बिल्कुल कोरी स्लेट थे। मैंने उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाने की बहुत कोशिश की मगर मैं इस काम में सफल नहीं हो पा रहा था। मैं उन्हें जो कुछ सिखाता वे उसे दूसरे दिन भूल जाते। घर पर उनको पढ़ना अच्छा नहीं लगता। लगातार कोशिश के बाद नतीजा ये मिलने पर मैं गुस्से में खीझ उठता। और ऐसे में मेरे पुराने संस्कार जाग उठते और कभी-कभी डंडे का इस्तेमाल भी कर बैठता। मारना अब मुझे अच्छा नहीं लगता लेकिन फिर भी कई बार धैर्य चूकने पर ऐसा कर बैठता। लगातार सोचता कि क्या किया जाए। कोई उपाय नहीं सूझता। तब मुझे लगा कि शिक्षक के तौर पर मैं कितना अक्षम हूं। निश्चित ही मैं इन बच्चों को सही तरीके से नहीं समझा पाता हूं तभी तो ये बच्चे नहीं सीख पा रहे हैं। लेकिन मेरे कहानी-कविता सुनाने के अनुभव को मैंने याद किया और मुझे लगा कि इन बच्चों को भी कहानी-कविताएं सुनानी चाहिए। शायद इन बच्चों के लिए पढ़ना-लिखना सीखने यह तरीका कारगर हो। मैंने कुछ कविताएं और कहानियां ढूंढकर बच्चों को सुनाना शुरू किया। कोर्स की किताबों बिल्कुल बंद। मैंने सोचा अगर कोर्स की किताबें पढ़ाऊं भी तो उनकी समझ से बाहर ही रहेंगी। मुझे बेहतर यही लगा कि कोर्स की किताबों से माथापच्ची से बेहतर तो यह है कि मैं इन्हें अच्छी कहानियां और कविताएं सुनाऊं। वैसे भी इन बच्चों की कोर्स की किताबों में दिलचस्पी तो है नहीं। उन्हें पढ़ाने से भी क्या लाभ मिलेगा।

कविताओं और कहानियों में उनका मन लगने लगा। सभी बच्चों के बारे में यह दिलचस्प तथ्य है कि कहानियां उन्हें जादू की तरह सम्मोहित करती हैं। पहले मैंने उन्हें कई कहानियां सुनाई और फिर तो यह हुआ कि बच्चों से यह कहने पर कि कौन कहानी सुनाएगा तो उनमें कहानी याद कर सुनाने की होड़ मचने लगी। महीने भर बाद हुआ ये कि मेरे पास कहानी-कविताओं की जमा-पूजी खत्म होने लगी। बच्चे अब मांग करने लगे, अब रोज कुछ न कुछ सनुने के लिए उन्हें चाहिए। जब उनकी मांग इतनी बढ़ने लगी तो मैंने कहा कि यदि तुम पढ़ना-लिखना सीख जाओगे तो तुम खुद भी बहुत सी अच्छी-अच्छी कहानियां पढ़ पाओगे। वे पूछते अपने स्कूल में हैं किताबें ? मैं उन्हें बताता कि अगर नहीं भी होंगी तो कहीं न कहीं से तुम्हें मैं लाकर दूंगा। उनको अच्छा लगा और जो काम मैं पिछले दो-तीन साल में नहीं कर सका वह महीने भर में हो गया : वे अब अटक-अटक कर किताबें पढ़ने लगे थे और कहानियों की किताबें मांगने लगे। वे अब मुझसे अपने मन की बात खुलकर कहने

लगे थे। अब उन्हें भी मुझसे डर नहीं लगता था। उनका स्कूल आना नियमित हो गया था। मुझे उन्हें स्कूल लाने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। शायद यही वजह है कि जो बच्चे नियमित स्कूल नहीं आते उन्हें स्कूल में लुभावना और सीखने को कुछ भी नहीं मिलता। इसी दौरान किसी पत्रिका में एनसीईआरटी के निदेशक कृष्ण कुमार का एक वक्तव्य पढ़ने को मिला। बकौल उनके 'मैं अब भी सप्ताह में एक दिन बच्चों को कहानी सुनाने दिल्ली के किसी स्कूल में जाता हूं।' बच्चों को कहानी सुनाने का सिलसिला नियमित चलने लगा। ऐसे ही एक बार जब मैं स्कूल में गया तो मैं अपने साथ झोले में एक रोटी भी ले गया था। मैंने बच्चों को 'बुढ़िया की रोटी' कहानी सुनाई। जब कहानी खत्म हुई तो मैंने झोले से रोटी निकाल कर बच्चों को दिखलाई। और कहा कि - "यही वह रोटी है जिसे कौआ उठाकर ले गया था।" बच्चों ने बड़ी हैरत से उस रोटी को देखा।

कई सारी कविताएं उन्हें याद हो गईं। पहले बच्चे खड़े होकर सुनाने में इतना डरते, झिझकते थे कि पूछो मत। मैं खीझ उठता। मगर अब उनका आत्मविश्वास देखकर ताज्जुब होता है। कल्पना करने, याद करके सुनाने और पढ़ने में रुचि पैदा होने से अब वे सहज नजर आते हैं। मैंने एक दिन ये भी किया कि सब बच्चों को इकट्ठा कर कहा - आज 'बुढ़िया की रोटी' का खेल (नाटक) खेलेंगे। फिर एक को बुढ़िया बनाया। एक को तोता। कोयल, मोर, बड़ई, लुहार और एक को कौवा। कहानी सभी को याद थी ही। मैंने बच्चों को बस यह बताया कि कैसे क्या करना है ? बस फिर क्या था ... कमरे में बुढ़िया की रोटी नामक नाटक उनके द्वारा अनगढ़ तरीके से जब खेला गया तो बाकी बच्चों सहित मैं भी हंसता-हंसता दोहरा हो गया। कोई संवाद ही भूल जाता। जो बच्चा तोता बना था वह कौवे की तरह कांव-कांव करने लगता। बहुत आनंद आया। दूसरे दिन भी ऐसा ही किया। फिर हमने नाटक में थोड़ा सुधार किया। इससे उनका भरपूर मनोरंजन होता। जो लड़की बुढ़िया बनती वह जब कभी संवाद भूल जाती तो बाकी लड़कियां ताली पीटकर हंसती-हंसती लोटपोट हो जाती और फिर वे सामूहिक रूप से देर तक हंसती रहती।

जब उनके अन्दर का कलाकार जोर मारता है तो वे अपने आप तीन बजे के आसपास कहने लग जाते हैं - सर, बुढ़िया का खेल खेलेंगे।

यह एक छोटा-सा उदाहरण है जिससे मैं कह सकता हूं कि यदि बच्चों को स्कूल में बराबरी और सम्मान का माहौल मिले तो उनकी स्वभाविक क्षमताएं उजागर होने लगती हैं। अन्यथा बहुत से बच्चों की बहुत-सी क्षमताएं असमय ही दम तोड़ देती हैं। स्कूल का भय उनकी संभावनाओं को बाहर ही नहीं आने देता। ♦